वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

प्राचीन भारत में शिक्षण प्रणाली

रोहित बिदुआ
सहायक प्राध्यापक (शिक्षा- शास्त्र)
श्री कृष्णा विश्वविद्यालय, छतरपुर म.प्र.

किसी भी काल की शिक्षा प्रणाली का अध्ययन करने के लिए मूल आवश्यकता है उस काल के सामाजिक-आर्थिक स्वरूप की परख जो कि इस अध्ययन का आधार है। ऋगवेद काल (लगभग 1500 से 1000 ई. पूर्व) में तो पशुचारी और अर्ध यायावर जीवन ही था और उस समय की प्रचलित शिक्षा प्रणाली इस लक्ष्य के अनुरूप ही थी। विभिन्न ऋषियों ने अपने गोधन की रक्षा के लिए विभिन्न ऋचाओं की रचना भी इसी सिद्धांत को ध्यान में रखकर की। पशुधन प्राप्त करना ही अनेक कबीलों के आपसी युद्धों का कारण बना। विभिन्न युद्धों में विजय प्राप्ति के लिए और अपने पशुधन की रक्षा के लिए यज्ञों द्वारा वरुण, सूर्य, सावित्री आदि अनेकानेक देवी-देवताओं का आह्वान किया जाता था।

विभिन्न ऋचाओं की रचना करने वाले ऋषियों ने अपने शिष्यों को विद्या देने के लिए अलग विद्यालय स्थापित किए। उस समय तक समाज का वर्ण-आधार पर विभाजन नहीं हुआ था और आर्य 'विश' के हर व्यक्ति को वेद अध्ययन का अधिकार था। नारियों पर पुरुषों का प्रभाव भी पूरी तरह चलन में नहीं आया था और महिलाओं को भी वेदों का अध्ययन करने का पूर्ण अधिकार था। कहा जाता है कि ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना करने वाले मनीषियों और ऋषियों में से बीस महिलाएं थीं।

ऋग्वेद में गुरु-शिष्य संबंधों को विस्तार से निर्धारित किया गया था। प्रत्येक शिष्य की निजी क्षमता और प्रतिभा के आधार पर हर शिष्य के लिए शिक्षण की भिन्न पद्धति अपनाई जाती थी। वेदों के अध्ययन के लिए पहला चरण था शिक्षार्थियों को इन पवित्र ग्रंथों का मूल पाठ कंठस्थ कराना, इसके लिए इन मंत्रों का सस्वर उच्चारण सिखाया जाता था।

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

वेदोत्तर काल (लगभग 1000 से 600 ई. पूर्व) में आर्यों की जीवन-शैली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए। इस काल में कृषि जीवनयापन का प्रमुख साधन बन गई थी। बस्तियों के विकास और जीवन के व्यवस्थित हो जाने के फलस्वरूप समाज का चार वर्षों में विभाजन हो गया, यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। समुदाय पर आधारित यज्ञों के स्थान पर चार-आश्रमों की व्यवस्था का उदय हुआ। आर्य को पहले 'ब्रह्मचारी' बनकर रहना पड़ता था, इस आश्रम में वह शिष्य बनकर गुरु के पास ही रहकर विद्या-अध्ययन करता था। वेदों का पूर्ण या आंशिक ज्ञान प्राप्त करने के बाद वह विवाह करके गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। आयु बढ़ जाने पर वह सांसारिक वस्तुओं का मोह त्याग कर वानप्रस्थी बन जाता था। अंत में, आयु के अंतिम चरण में ध्यान, साधना और तपस्या से अपनी आत्मा को भौतिक-बंधनों से मुक्त कराके वह संन्यासी बनकर विचरता था।

विद्या अध्ययन का शुभारंभ उपनयन संस्कार के साथ होता था। पुत्र को अध्ययन के लिए गुरु को सौंप दिया जाता था और उस बच्चे को समाज का विधिवत् सदस्य मान लिया जाता था। परंतु यह परंपरा ब्राहमण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में ही सीमित थी, शुद्रों को उपनयन करने कराने का अधिकार नहीं था। वैदिक काल में कभी-कभी कन्या का भी उपनयन कर देते थे। इस संस्कार को बच्चे को दूसरा जन्म समझा जाता था और इसीलिए इन तीन उच्च वर्षों के उन लोगों को 'द्विज' कहा जाता था जिनका उपनयन संस्कार हो जाता था।

ब्रहमचारी को उपनयन के बाद अपने गुरु के आश्रम में रहकर भौतिक (शारीरिक) और आध्यात्मिक, दोनों प्रकार के अनुशासन का पालन करना होता था।

शारीरिक अनुशासन में निम्नलिखित क्रियाएं करनी पड़ती थीं

(1) मृगचर्म और कुश धारण करना, (2) केश बढ़ने देना, (3) लकड़ियां एकत्र करके ईंधन की व्यवस्था करना, (4) भिक्षाटन करना और आध्यात्मिक अनुशासन में रहना, (5) अग्नि को ईधन और आहुति देकर दिन में दो बार अग्निपूजन करना, (6) इंद्रियों पर संयम (नियंत्रण), (7) सादगी से रहना, (8) समर्पित भाव से रहना और (9) गुरु को ऐसी भेंट उपहार देकर सतुष्ट करना जिन्हें वह स्वीकार कर लें।

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

कहने को तो सिद्धांत रूप में सभी द्विजों को शिक्षा पाने का अधिकार था, परंतु वास्तविक व्यवहार में वेद विशेष रूप में ब्राह्मणों की ही सुरक्षित निधि बनते जा रहे थे। ब्रह्मचारी को ब्राह्मण गुरु के गृह में 12 वर्ष तक प्रशिक्षित किया जाता था। अध्ययन के विषयों में गणित, व्याकरण, छंदशास्त्र और वेद शामिल थे। समूचे वैदिक काल में शिक्षा मौखिक रूप से ही दी जाती थी। अधिकांशतः श्रुतियों और स्मृतियों के माध्यम से विद्या दी जाती थी। ब्रह्मचारी से अपेक्षा की जाती थी कि वह गुरु की शिक्षा को कंठस्थ कर लें। जब गुरु अपने शिष्य की उपलब्धि से संतुष्ट हो जाता था तो वह उसे अंतिम उपदेश देता था जिसे 'स्नातकोपदेश' कहते थे। स्नातकोपदेश में उसे समाज में व्यक्ति के व्यवहार और आचरण का उपदेश दिया जाता था। उसे सिखाया जाता था कि वह सत्य बोले, धर्मानुसार आचरण करे, माता-पिता, वृद्धजनों और गुरुजनों को देवतुल्य मानकर उनका आदर-सम्मान करे, दान करे, अहिंसा का पालन करे आदि।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व प्राचीन भारत के इतिहास में इसलिए विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उस काल में समाज पूरी तरह चार वर्षों में बंट चुका था और उच्च वर्ण, निम्न वर्षों की तुलना में अलग ही दिखते थे। कृषि, व्यापार वाणिज्य, उचित कर प्रणाली और सिक्कों के चलन से दूसरा शहरीकरण ही हो गया था। परिणामस्वरूप 16 महाजनपद अस्तितत्व में आए। अनेक अधर्मी समुदाय (मत) भी जन्में। समाज में शीघ्रता से आए इन परिवर्तनों के कारण शिक्षा प्रणाली में भी परिवर्तन आए। प्रत्येक मतावलंबियों ने अपनी अलग पद्धति अपनाई। यहां हम ब्राह्मण और बौद्ध मतों में प्रचलित शिक्षा प्रणालियों की चर्चा करना चाहते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वेदोत्तर काल में शिक्षा से जुड़ा उपनयन संस्कार नियमित हो गया था। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद से वर्ण व्यवस्था पर आधारित समाज में वंशानुगत स्वरूप पर बल देने के लिए भी उपनयन का प्रयोग किया जाता था। आपस्तंभ (500 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व) के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन वसंत ऋतु में, राजा (क्षत्रिय) का गर्मियों में वैश्य का उपनयन शरद ऋतु में और क्रमशः आठ, ग्यारह तथा बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। मनु (लगभग 200 ईसा पूर्व से 300 ईस्वी) ने आगे यह जोड़ा कि ब्राह्मण यदि

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

वेदों में पारंगत होना चाहे तो पांच वर्ष की आयु में भी उसका उपनयन संस्कार किया जा सकता है। क्षत्रिय यदि शक्तिसंपन्न होना चाहे तो उसका उपनयन सस्कार आठ वर्ष की आयु में कराया जा सकता हैं। मेखला या करधनी वर्णानुसार कुश के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की बनी हो सकती है। इसी प्रकार वस्त्र और चर्म भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं और ब्रहमचारी का दंड भी अलग-अलग प्रकार का हो सकता है। इनकी विविधता का वर्णन गृहसूत्र, धर्मसूत्र और स्मृतियों में उपलब्ध है। अतः इस संस्कार को संपन्न करने वाले सभी द्विज समान नहीं थे। अंततः स्थिति ऐसी हो गई कि द्विज शब्द ब्राहमण का ही पर्याय बनकर रह गया। शूद्रों को वैदिक अध्ययन का अधिकार नहीं था। और उनका उपनयन संस्कार नहीं हो सकता था। शूद्रों को विशेषरूप से एक जाति नाम से संबोधित किया जाता था। महिलाओं को उपनयन संस्कार का अधिकार प्राप्त होने या प्राप्त न होने के बारे में गृहसूत्रों में स्पष्ट नहीं लिखा है, परंतु धर्मसूत्र और स्मृतियों में उपलब्ध प्रमाण के अनुसार महिलाओं का उपनयन संस्कार नहीं हो सकता था। महिलाओं को वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था। इस प्रकार महिलाओं को वेद अध्ययन से वंचित करके पुरुषों की प्रधानता और प्रभुत्व बनाए रखने में बहुत सहायता मिलती थी, जिससे समाज का पितृ प्रधान स्वरूप सुदृढ़ किया जा सका।

ब्राहमण परंपरा के अनुसार मनुष्य के जीवन का पहला चरण या पहला आश्रम ब्रहमचर्य-आश्रम ही था। इसका उल्लेख 'अथर्ववेद' में और 'शतपथ ब्राहमण' में हैं जहां इसे उपनयन संस्कार से संबद्ध माना गया है। परंतु इसका विस्तृत वर्णन केवल गृहसूत्र, धर्मसूत्र तथा स्मृतियों में मनुष्य जीवन के प्रथम चरण के संबंध का सर्वाधिक सुस्पष्ट वर्णन है। यह कहा गया था कि यदि गुरु चले तो शिष्य को उसका अनुसरण करना चाहिए, यदि गुरु दौड़े तो शिष्य को भी उसके पीछे दौड़ना चाहिए, यदि गुरु बैठे तो शिष्य को खड़े रहना चाहिए और यदि गुरु लेट जाए तो शिष्य को बैठ जाना चाहिए। शिष्य को गुरु से पूर्व जागना और उसके सोने के पश्चात् सोना और प्रातःकाल गुरु की चरणवंदना करके दिनचर्या आरंभ करनी चाहिए। शिष्य से यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वह भिक्षा में प्राप्त पूर्ण-सामग्री गुरु को अर्पित कर दें और उन्हीं की आज्ञा का आजीवन पालन करना चाहिए। इस प्रकार गुरु और शिष्य के भेद पर जहां तक हो सके जोर दिया जाता था। शिष्य या विद्यार्थी को यह निर्देश भी दिए जाते थे कि वह परस्पर विरोधी बातें

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

न बोले। इसका अर्थ है कि आदर्श विद्यार्थी वर्तमान या उभरती हुई सामाजिक व्यवस्था पर शंका नहीं करेगा और न ही उसे किसी प्रकार की चुनौती देगा। अतः ब्रहमचर्य व्यवस्था से इस विचार या सिद्धांत को बल मिलता था कि समाज में वंशानुगत व्यवस्था स्वाभाविक और अपरिहार्य है।

इस पृष्ठभूमि को देखते हुए पहले वर्णित विशेष वंशानुगतता के प्रति प्रवृत्ति और स्पष्ट हो जाती है। वर्ण वंशानुगतता से आंरभ करके कहा जा सकता है कि शिक्षण का कार्य विशेष रूप से केवल ब्राहमणों के जिम्मे था और वे ही शिक्षा देते थे। सिद्धांत में क्षत्रिय और वैश्य भी अध्ययन कर सकते थे और कभी-कभी वास्तव में भी विद्याध्ययन करते थे। द्विज-पद को ब्राहमणत्व का पर्याय मानने की वृत्ति भी समझ में आती है। वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत उपनयन संस्कार के लिए निर्धारित प्रतिबंधों के अनुसार वेदों के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा थी शूद्रों की उपस्थिति। गौतम (लगभग 600 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व) और मनु ने तो यह घोषणा भी कर दी थी कि यदि शूद्र वेदों का श्रवण कर ले तो उसके कानों में पिघला हुआ लोहा भर दिया जाए, यदि वह वेदपाठ करे तो उसकी जीभ काट दी जाए और यदि वह वेदों को कंठस्थ कर ले तो उसके शरीर के टुकड़े कर दिए जाने चाहिए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ब्रहमचर्य आश्रम वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। सर्वोच्च वर्ण (ब्राहमण) को वेदों के पढ़ने और पढ़ाने का अधिकार था, जबकि निम्नतम वर्ग (शूद्र) को वेदों के आसपास आने की भी अनुमति नहीं।

लिंग भेद और ब्रहमचर्य के बीच संबंध और भी स्पष्ट है। ब्रहमचर्य शब्द विद्यार्थी काल की अवधि और उसकी पवित्रता (ब्रहमचर्य) का परिचायक है। ब्रहमचारियों को न केवल संभोग से दूर रहकर संयमित रहना होता था, बल्कि उन्हें महिलाओं को छूना, देखना या उनसे बोलना वर्जित था। विद्यार्थीकाल पूरा हो जाने के बाद भी उसे उस रात्रि में वेदपाठ नहीं करना चाहिए था जिस रात्रि में वह पत्नी के साथ सहवास या संभोग करता था। अतः यह काफी स्पष्ट है कि वेदों का अध्ययन और स्त्री-संपर्क दो अलग-अलग बातें थीं और इन्हें एक साथ नहीं निभाया जा सकता था। एक समय में इनमें से एक को ही अपनाया जा सकता था। वर्ण भेद की भांति ही ब्रहमचर्य से उपनयन के संदर्भ में पुरुष और स्त्री के भेद को भी बल मिलता था और यह परंपरा

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

मजबूत होती थी। अध्ययन के पाठ्यक्रम के बारे में धर्मसूत्र और स्मृतियां तथा अन्य साहित्य में विभिन्न वर्षों के लिए निर्धारित विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रमों का विवरण दिया गया है। आरंभ में विद्या-अध्ययन में वेदों, संहिताओं और ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, वेदांगों, धर्मसूत्रों, इतिहास-पुराण, व्याकरण, वार्ता, अन्वेषिकी और दंडनीति आदि का अध्ययन शामिल था। यह सब ब्राह्मण विद्यार्थी के लिए निर्धारित था। सैद्धांतिक रूप से क्षत्रिय और वैश्य विद्याार्थियों को वेदों का ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार था। विशेष रूप से क्षत्रिय को क्षात्र विद्या (सैनिक प्रशिक्षण, युद्ध विज्ञान) नीतिशास्त्र (आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र), दंडनीति और वैश्यों को व्यापार, कृषि, पशुपालन और संपत्ति विज्ञान आदि सौखाने पर बल दिया जांता था।

पितृप्रधान समाज के स्वरूप के लिए ब्रह्मचर्य व्यवस्था को आत्मसात् करने के लिए भी सुनियोजित व्यवस्थित ढंग से प्रयास किए जाते थे। इसके लिए तुलना करके समानताएँ दर्शायी जाती थीं। शिक्षक को पिता के समान माना जाता था। संभव है कि इस प्रकार की तुलनाएं करने से पितृप्रधान संबंधों को आदर्श मानने में ही सहायता मिलती है। अतः यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणवादी शिक्षा और ज्ञान वर्ण व्यवस्था पर इसलिए आधारित था, ताकि इससे पितृप्रधान सामाजिक स्वरूप को बल मिलता रहे और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनी रहे।

बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केंद्र बौद्ध संघ और बाद में बौद्ध मठ थे। बौद्ध धर्म से चारों वर्णों के लिए शिक्षा के द्वार खोले गए, जिनमें महिलाएं भी शामिल थीं, जिन्हें संघ में लिया जा सकता था और वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। बौद्ध मत में किसी भी वर्ग या समुदाय के लोगों के शिक्षा प्राप्त करने के बारे में कोई भेदभाव नहीं था। बौद्ध विचारधारा के अनुसार किसी भी जाति का व्यक्ति गुरु हो सकता था। बौद्ध मत के अनुसार गुरु सदा आदरणीय था चाहे वह चांडाल हो, शूद्र हो या पुक्कस जाति का व्यक्ति हो। हालांकि चारों वर्णों की महिलाओं को संघ में प्रवेश की अनुमति थी, फिर भी पुरुषों की तुलना में उनकी स्थिति निम्न ही थी, महिला सदस्यों के लिए आठ प्रमुख नियम थे जिन्हें 'अड्ड गुरु धम्म' कहते थे। इस असमान दर्जे के बावजूद महिलाओं को लंग की सदस्यता की अनुमति देना एक महान् उपलब्धि थी, विशेष रूप से इसलिए कि ब्राह्मणवादी महिलाओं के लिए वेदों का अध्ययन वर्जित था। परंतु दासों, ऋणी व्यक्तियों, राजा

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

के कर्मचारियों, छूत की बीमारियों से पीड़ित व्यक्तियों, चोरों और डाकुओं को संघ की सदस्यता नहीं दी जाती थी, वे इसके लिए अयोग्य समझे जाते थे।

दासों, ऋणी व्यक्तियों और शाही नौकरों को संघ का सदस्य बनाने से तीसरे पक्षों के अधिकारों में हस्तक्षेप होता था, ये पक्ष थे-ऋणदाता (साहूकार), दासों के स्वामी और सम्राट (राजा)। फिर भयानक और स्पष्ट दिखने वाले शारीरिक दोषों और भयंकर रोगों के आधार पर लोगों की सदस्यता पर प्रतिबंध लगाया गया था। कुष्ठ रोग, खुजली, मिर्गी आदि छूत की भयंकर बीमारी वाले लोगों को संघ में प्रवेश देने से भिक्षुओं और भिक्षुणियों के स्वास्थ्य को खतरा हो सकता था। यह भी माना जाता था कि चोरी-डकैती जैसे आपराधिक और समाजविरोधी कार्यों में लगे किसी प्रकार की शिक्षा पाने वाले पुत्र को भी संघ का सदस्य नहीं बनाया जाता था। संभवतः यह नियम समाज के पितृप्रधान स्वरूप को मजबूत करने के उद्देश्य से बनाया गया था। बौद्ध धर्म में प्रवेश के लिए सबसे पहला चरण पब्बज्जा कहलाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति स्वयं को संघ का सदस्य बनने के लिए प्रस्तुत कर रहा है और वह अपनी पूर्व स्थिति को त्याग रहा है चाहे वह साधारण गृहस्थ रहा हो, या किसी अन्य मत को मानने वाला भिक्षुक या प्रव्राजक रहा हो। 'पब्बज्जा' संस्कार 15 वर्ष की आयु में किया जाता था और 20 की आयु में उपसंपदा संस्कार किया जाता था। पहले उसे संघ का प्राथमिक सदस्य बनाया जाता था और 'उपसंपदा' होने के बाद उसे 'पूर्णसदस्य' के रूप में सभी अधिकार प्राप्त हो जाते थे। इन दोनों संस्कारों के बीच की पांच वर्ष की अवधि परीक्षा काल होता था, जिसमें नवभिक्षु को उसके गुरु उचित प्रशिक्षण देते ताकि वह पूर्ण सदस्यता प्राप्त कर सके।

'पब्बज्जा' होने के बाद नवभिक्षु को अपना आध्यात्मिक गुरु चुनना होता था, जिसके मार्गदर्शन में वह पूर्ण भिक्षुपद प्राप्त कर सकता था। गुरु को 'उपाज्ज्याय' और 'आचार्य' के नाम से जाना जाता था। 'उपाज्ज्याय' का दर्जा ऊंचा होता था और वह युवा भिक्षु को पवित्र पुस्तक और धर्मोपदेश समझाता था, जबकि आचार्य भिक्षु को आचार-व्यवहार सिखाता था और उसे कर्माचार्य भी कहते थे, यह नाम उसके धर्मोत्तर कार्य के लिए ही नहीं, बल्कि अनुशासन सिखाने

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

के दायित्व के कारण पड़ा था। बुद्धघोष के अनुसार बौद्ध मठ में 'उपाध्याय' 10 वर्ष की वरीयता वाले गुरु होते थे, जबकि आचार्य की वरिष्ठता केवल छह वर्ष की ही होती थी।

नवभिक्षु को 'सद्धिविहारिक' कहते थे। उसे जीवन को व्यर्थ गंवाने से रोकने, झूठ बोलने से रोकने, तीव्र नशीली मदिरा लेने से रोकने, नृत्य गायन-संगीत से बचने, सुगंध और पुष्पाहारों को न लेने, संभोग न करने और अपवित्र कार्यों से बचने के निर्देश दिए जाते थे। ब्राह्मण शिक्षा की भांति ही, बौद्ध धर्म में भी सद्धिविहारिक के ब्रह्मचर्य पर सर्वाधिक जोर दिया जाता था।

सद्धिविहारिक को उपाज्ज्याय के लिए अनेक सेवाकार्य करने पड़ते थे। वह उपाज्ज्याय को दांतुन का सामान और जल देता था, उसके लिए आसन की व्यवस्था करता था, उसे दूध-चावल (खीर) देता था, उसके वस्त्र धोता था और बर्तन मांजता था। उपाज्ज्याय के निजी कार्यों के अलावा वह विहार में झाडू लगाने, चीजों को व्यवस्थित ढंग से रखने और गुप्त स्थानों की सफाई आदि उनके अन्य कार्य भी करता था। मिलिंदपहो के अनुसार विद्यार्थी भिक्षाटन में नित्य अपने गुरु के साथ जाता था, यदि उपाज्ज्याय या शिक्षक कोई मिथ्या सिद्धांत या उपदेश करता था तो वह सद्धिविहारिक का कर्तव्य था कि उस पर बहस करें या अन्य लोगों से बहस करने को कहें, उसे ही यह देखना होता था कि किसी भी उपदेश का गलत अर्थ न समझाया जाए। यदि सद्धिविहारिक से कोई गंभीर अपराध हो जाता था तो उसे स्वयं संघ से निवेदन करना पड़ता था कि उसे दंड दिया जाए।

बौद्ध शिक्षा के अंतर्गत सद्धिविहारिक के लिए और ब्राहमण शिक्षा के अंतर्गत ब्रह्मचारी के लिए निर्धारित नियमों में कुछ अंतर होने के कारण इन दोनों शिक्षा प्रणालियों में भी कुछ अंतर था। ब्रह्मचारी को अपने गुरु के विरुद्ध कुछ भी करने-कहने की अनुमति नहीं थी। ब्राहमण शिक्षा प्रणाली में शिक्षाकाल पूरा होने के बाद शिष्य गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता था। लेकिन बौद्ध संघ में सद्धिविहारिक को जीवनपर्यंत उसी समुदाय में रहना होता था। गुरुशिष्य का संबंध पांच वर्ष का होता था। और इस अवधि में भी उसे गुरु के दोषों को बताने की अनुमति होती थी। इसी प्रकार, यदि संघ उपाज्ज्याय के विरुद्ध कार्रवाई करना चाहता था और सद्धिविहारिक की

वर्ष-1, अंक-4, जुलाई - सितम्बर 2024 E-ISSN : 2584-2900

दृष्टि में वह दोषी नहीं था तो उसका कर्तव्य था कि वह संघघ को अपना विचार या निर्णय बदलने के लिए राजी करें। सद्धिविहारिक के प्रशिक्षणकाल के अनुशासन से हम उसके अध्ययन पर आते हैं। शिष्य की सामान्य शिक्षा में उसे सस्वर पाठ करके, उपदेश सिखा कर, धम्म की व्याख्या करके और परीक्षा लेकर पढ़ाया जाता था। कुछ भिक्षु धम्म का पाठ करने और कुछ सुत्तन्त का सुत्त गान करने में पारंगत थे।

कुछ भिक्षु विनय में दक्ष हुए तो कुछ धम्म के प्रचारक के रूप में। विद्यार्थियों के रूप में भिक्षुओं को उनकी योग्यता-प्रदर्शन के अनुसार अलग-अलग कक्षाओं में रखा जाता था। सबसे छोटी कक्षा संभवतः उन भिक्षुओं की थी जो सुत्त को दोहराते थे। इसके लिए एक-दूसरे को सुत्त गाकर सुनाए जाते थे। इससे अगली कक्षा 'विनय' के लिए होती थी और इसमें शिक्षार्थी आपस में तर्क-वितर्क करते थे तथा निपुणता प्राप्त करते थे। उससे आगे की कक्षा उन विद्यार्थियों के लिए होती थी जो धम्म के शिक्षक या गुरु बनना चाहते थे, इसके लिए उन्हें आपस में उपदेश करके अन्य लोगों को धम्म की व्याख्या करने को क्षमता और निपुणता प्राप्त करनी होती थी।

अब हम बौद्ध धर्म में जन साधारण वर्ग के सामान्य अनुयायियों को दी जाने वाली शिक्षा की चर्चा करेंगे। जन साधारण वर्ग में मोटे तौर पर वे सभी लोग शामिल थे, जो बौद्ध संघ के समर्थक थे लेकिन वास्तव में संघ में शामिल नहीं होते थे। उन्हें 'उपासक' या 'उपासिका' कहते थे, अर्थात् वे लोग जिन्होंने बौद्ध धर्म के त्रिरत्न को स्वीकार कर लिया था। ये लोग जो समर्थन देते थे वह भूमि दान करने, विहारों का निर्माण करने, वस्त्र दान करने, औषधियां या अन्य सामग्री दान करने के रूप में होता था परंतु अधिकांश यह समर्थन भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था के रूप में होता था, जो संघ और जन साधारण के बीच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संपर्क सूत्र भी था। इसके बदले में भिक्षु जनसाधारण वर्ग को धम्म सिखाते थे और बौद्धमत के बारे में उनकी शंकाओं का निवारण करते थे। सामान्य शिक्षा के लिए उपासक वर्ग और सामान्यजनों को ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली पर ही निर्भर रहना पड़ता था।